

## सम्पादकीय

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलीकृत षट्खण्डागम सूत्र और उनकी आचार्य वीरसेनकृत धवला टीकाका स्थान जैन साहित्यमें अद्वितीय हैं। इनकी ताडपत्रीय प्रतियाँ एकमात्र स्थान मूडबिद्रीके जैन भण्डारमें सुरक्षित थीं और वे शतियोंसे अध्ययन नहीं, किन्तु दर्शन - पूजनकी वस्तु बन गयी थीं। इस परमागम मानी जानेवाली महाकृतीकी प्रतिलिपियाँ किस प्रकार उक्त भण्डारसे बाहर निकली इसका भी एक रोमांचक इतिहास है जिसका परिचय इसके प्रथम संस्करणके प्रथम भागकी भूमिकामें दिया जा चुका है और वह प्रस्तुत संशोधित संस्करणमें भी अविकल रूपसे सम्मिलित है।

जब हमने सन् १९३८ ई. में भेलसा निवासी श्रीमन्त सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्रजीके दानके निमित्तसे इस परमागमके अध्ययन व संशोधन कार्यमें हाथ लगाया, तब समाजमें इसकी भिन्न भिन्न प्रतिक्रियायें उत्पन्न हुई। नयी पीढीके समझदार विद्वानोंने इसका हार्दिक स्वागत किया और कुछ पुराने पण्डितों और शास्त्रियों, जैसे स्व. पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री, पं. हीरालालजी शास्त्री, पं. फुलचन्दजी शास्त्री और पं. बालचन्दजी शास्त्रीका हमें क्रियात्मक सहयोग प्राप्त हुआ। किन्तु विद्वानोंके एक वर्गने इसका कडा विरोध किया। कुछका अभिमत था कि षट्खण्डागम जैसे परमागमका मुद्रण कराना श्रुतकी अविनय है। यह भी मत व्यक्त किया गया कि ऐसे सिध्दान्त ग्रन्थोंको पढनेका भी अधिकार गृहस्थोंको नहीं है। वह केवल त्यागी मुनियोंके ही अधिकारकी बात है। कुछ विद्वानोंको यह भी सन्देह था कि क्या हमारे जैसे अंग्रेजी पढे-लिखे बाबुओं द्वारा ऐसी गहन सिध्दान्त रचनाका समझदारीसे संशोधन किया जा सकता है ? इत्यादि। किन्तु जब इस विरोधके होते हुए भी हम और हमारे सहयोगी ग्रन्थके संशोधनमें दृढतासे प्रवृत्त हो गये और एक वर्षके भीतर ही उसका प्रथम भाग सत्प्ररूपणा प्रकाशित हो गया तब सभीको कुछ आश्चर्य सा हुआ। स्व. सिं. पन्नालालजीके नेतृत्वमें अमरावतीकी जैन समाजने बड़े समारोह पूर्वक उस प्रथम भागका उद्घाटन कराया। फिर तो इस ओर विद्वानोंकी ऐसी रुचि उत्पन्न हुई कि इन सिध्दान्त

ग्रन्थोंके प्रकाशनकी होड सी मच गयी। शोलापूर निवासी स्व. पं. बन्सीधर शास्त्रीने भी अपने निजी मुद्रणालयसे इसका प्रकाशन प्रारंभ किया। किन्तु वे दो-तीन भागोंके प्रकाशनसे आगे न बढ सके। कुछ काल पश्चात् जैन शास्त्रार्थ संघ मथुराकी ओरसे कषाय-प्राभृत (जय धवल सिध्दान्त ) का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, तथा भारतीय ज्ञानपीठकी ओरसे महाबंध ( महाधवल सिध्दान्त ) का प्रकाशन होने लगा। पीछे विदुषी सुमतिबाई शाहने सूत्रमात्र और उनके हिन्दी अनुवादका संस्करण प्रकाशित प्रसिध्द कराया, तथा पं. हीरालालजी शास्त्रीने कषाय-प्राभृत के चूर्ण सुत्रोंको सानुवाद प्रकाशित कराया। इस प्रकार जो धवल, जयधवल और महाधवल नामसे प्रसिध्द सिध्दान्त ग्रन्थ शतियोंसे पूजाकी वस्तु बने हुए थे वे समस्त जिज्ञासुओंके स्वाध्याय हेतु सुलभ हो गये। इसे जैन साहित्यके इतिहासमें एक विशेष उत्कृन्तीकी संज्ञा दी जा सकती है।

श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजी द्वारा संस्थापित जैन साहित्योद्धारक फंडसे समस्त षट्खण्डागम और उसकी टीकाका अनुवादादि सहित संशोधन-प्रकाशन १६ भागोंमें १९३६ ई. से १९५६ ई. तक २० वर्षोंमें पूर्ण हो गया। इसके अंतिम भाग छपनेसे पूर्व ही आदिके कुछ भागोंकी प्रतियाँ समाप्त हो गयी थीं और पाठकोंसे उन्हें पुनः प्रकाशनकी मांग आने लगी थी। किन्तु सम्पादक मण्डलका यह निश्चय था कि जब तक एक बार पुरा ग्रन्थ प्रकाशित न हो जाये तब तक किसी भागके दुबारा प्रकाशनमें अपना समय व शक्ति न लगाये जायें। यह भी विचार था कि जब द्वितीय संस्करणमें हाथ लगाया जाये तब पाठका प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियोंसे मिलान अवश्य करनेका प्रयत्न किया जाय। हमने प्रथम संस्करणमें जो पाठ प्रस्तुत किया वह गुप्त रूपसे ताडपत्रीय प्रतिकी कन्नड लिपीमें की गयी प्रतिलिपिकी नागरी प्रतिलिपिकी गुप्त रूपसे बाहर आयी प्रतिलिपियोंके आधारसे किया था। आदिसे ही हमारा ध्यान इस त्रुटिकी ओर था और हमने मूडबिद्रीके भट्टारक महाराजसे बार बार शुध्द प्रकाशनमें सहायक होनेकी प्रार्थना भी की। किन्तु उनका रुख निषेधात्मक ही रहा। तथापि तृतीय भागके प्रकाशित होनेपर उनके भावोंमें एक विलक्षण परिवर्तन हुआ और उन्होंने हमें सूचित किया कि यदि हम चाहें तो वे ताडपत्रीय प्रतियोंसे पाठ मिलानकी सुविधा प्रदान कर सकते हैं। इसे हमने एक महान् पुण्योपलब्धि और वरदान ही समझा। ताडपत्रीय प्रतियोंकी लिपि हळेकन्नड ( पुरानी कर्नाटककी लिपि ) है, जिसके पढनेकी क्षमता इने-गिने विद्वानोंको थी। सौभाग्यसे हमें इस कार्य हेतु स्व. पं. लोकनाथ शास्त्रीका सहयोग प्राप्त हो गया और उनके द्वारा

हमें वे पाठान्तर प्राप्त हुये जिनका समावेश तृतीय भागके एक परिशिष्टमें किया गया है । आगेके भागोंमें उनकेद्वारा भेजे गये पाठान्तरोंका उपयोग मूलमें ही कर लिया गया ।

सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित होनेसे पूर्व ही एक और विवाद उठ खडा हुआ । प्रथम भागके सूत्र ९३ में जो पाठ हमें उपलब्ध था उसमें अर्थ-संगति की दृष्टिसे संजदासंजदके आगे संजदपद और जोडनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई । किन्तु इससे फलित होनेवाली सैध्दातिक व्यवस्थाओंसे कुछ विद्वानोंके मन आलोडित हुए और वे संजद पदको वहां जोडना एक अनधिकार चेष्टा कहने लगे । इस पर बहुत बार मौखिक शास्त्रार्थ भी हुये और उत्तर-प्रत्युत्तर रूप लेखोंकी श्रृंखलाये भी चल पडी, जिनका संग्रह कुछ स्वतंत्र ग्रन्थोंमें प्रकाशित भी हुआ है । इसके मौलिक समाधान हेतु जब हमने ताडपत्रीय प्रतियोंके पाठकी सूक्ष्मतासे जांच कराई तब पता चला कि वहां की दोनों भिन्न प्रतियोंमें हमारा सुझाया संजद पद विद्यमान है । इससे दो बातें स्पष्ट हुई- एक तो यह कि हमने जो पाठ-संशोधन किया है वह गंभीर चिंतन और समझदारी पर आधारित है और दूसरे यह कि मूल प्रतियोंसे पाठ-मिलान की आवश्यकता अब भी बनी हुई है, क्योंकि जो पाठान्तर मुडबिद्रीसे प्राप्त हुये थे और तृतीय भागके अंतमें समाविष्ट किये गये थे, उनमें हमें यह संशोधन नहीं मिला ।

इसी बीच बम्बईमें इस ग्रन्थको ताम्रपत्रोंपर अंकित करानेका भी आयोजन हुआ और वहां भी उक्त ९३ वें सूत्रमें संजद पद जोडनेके विषयपर विवाद उठ खडा हुआ, यद्यपि वहां भी ताडपत्रीय प्रतियोंमें उसके होनेकी पुष्टि प्राप्त हो चुकी थी । अब यह प्रयास किया गया कि मुडबिद्री भण्डारमें उपलब्ध इन ग्रन्थोंकी सभी ताडपत्रीय प्रतियोंके फोटो-चित्र लिये जायें । यह कार्य भी शीघ्र सम्पन्न हो गया और वे सब फोटोग्राफ फलटनके शास्त्र भण्डारमें आ गये ।

सन् १९५९ में समस्त षट्खण्डागमका १६ भागोंमें प्रकाशन पूरा हो जाने पर सम्पादकोंको यह चिंता हुई कि अब आदिके जो अनेक भाग अनुपलभ्य हो चुके हैं उनका उक्त फोटो -चित्रोंसे मिलान कर अंतिम रूपसे संशोधित संस्करण तैयार करनेकी क्या व्यवस्था की जाय ? बहुत सोच - विचारके पश्चात् यह निश्चय हुआ कि द्वितीय संस्करणका कार्यभार जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुरके आधीन किया जाय । हमने यह सुझाव श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजी व उनकी प्रबंध समितिके समक्ष प्रस्तुत किया और उन्होंने हमारे सुझावको सहर्ष स्वीकार कर लिया । इसके विषयमें

भेलसा और शोलापूर की संस्थाओंके बीच जो समझोता हुआ उसका विवरण प्रकाशकीय वक्तव्यमें दिया गया है।

### पंच णमोकर मंत्र

अभी अभी पणवणा-सुत्त का सुन्दर सम्पादन-प्रकाशन हुआ है ( जैन आगम ग्रंथमाला - ६, भाग १ - २, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई - २६, सन १९६९ व सन् १९७१ )। यह ग्रन्थ अर्धमागधी उपांगोंकी एक महत्त्वपूर्ण रचना है जो विषय व शैली आदि दृष्टियोंसे षट्खण्डागम सूत्रसे बहुत कुछ समानता रखती है। इसके सम्पादक मुनि पुण्यविजयजी, पं. दलसुख मालवणिया और पं. अमृतलाल मोहनलाल भोजक द्वारा लिखित अंग्रेजी व गुजराती की सविस्तृत प्रस्तावना बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें आये दो प्रकरण प्रकृतोपयोगी हानेसे यहाँ उल्लेखनीय हैं। अंग्रेजी प्रस्तावनाके पृष्ठ २३५ आदिमें प्रज्ञापनाके मंगलाचरण व पंचनमस्कार मंत्रकी विवेचना की गयी है जिसका सारांश यह है कि प्राचीनतम जैन रचनाओंमें इस पूरे मंत्रका उल्लेख नहीं पाया जाता। पीछेके साहित्यमें इसका व्यापक प्रयोग पाया जाता है। तथापि उसके कर्तृत्वके विषयमें कहीं कोई स्पष्ट सूचना नहीं पायी जाती। किन्तु षट्खण्डागम सूत्रका प्रारम्भ इसी पंचनमस्कार मंत्रसे होता है और उसकी वीरसेन कृत धवला टीकासे यह संकेत मिलता है कि उसके आदि-कर्ता आचार्य पुष्पदन्त ही हैं। हम प्रस्तुत ग्रन्थके प्रथम सूत्रकी टीकाके आधारसे द्वितीय भागकी प्रस्तावनामें तथा अन्यत्र भी यह प्रतिपादन कर चुके हैं कि आचार्य वीरसेन स्वामीका निस्संदेह अभिप्राय यही है कि यह मंत्र षट्खण्डागम सूत्रका अभिन्न अंग है और उसके कर्ता आचार्य पुष्पदन्त ही हैं। टीकाकारने मंगलके दो भेद किये हैं - निबध्द और अनिबध्द और दोनोंके लक्षण इस प्रकार समझाये हैं कि जहाँ सूत्रकार अपने मंगलाचरणकी स्वयं रचना करता है वह निबध्द मंगल कहलाता है और जहाँ अन्य द्वारा विरचित मंगलपाठ जोड़ दिया जाता है वह अनिबध्द मंगल है। इसी भेदके कारण उन्होंने यहां प्रयुक्त पंचनमस्कार मंत्रको निबध्द मंगल माना है, तथा चतुर्थखण्ड वेदनाके आदिमें जो 'णमो जिणाणं' आदि लम्बा मंगलपाठ है उसे उन्होंने अनिबध्द मंगल कहा है, क्योंकि वह स्वयं प्रस्तुत सूत्रकार द्वारा रचित न होकर गौतम गणधर द्वारा विरचित है और उसीकी वहाँ पुनरावृत्ति की गयी है। इस प्रकार धवलाकार के अभिमतमें किसी शक-सन्देह का अवकाश नहीं है।

इस प्रसंग में एक बातका और स्पष्टीकरण उचित होगा। णमोकार मंत्रमें जो प्रथम पद 'णमो अरिहंताणं' आया है उसके स्थान पर कहीं 'अरहंताणं' पाठ भी पाया जाता है। और प्राकृत भाषाकी प्रकृति को ध्यानमें रखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु षट्खण्डागमके समान प्रज्ञापना सूत्रके आदि में भी यही पाठ 'अरिहंताणं' पाया जाता है, तथा उसके टीकाकार हरिभद्र और मलयगिरीने वही ग्रहण किया है। धवलाकार वीरसेन स्वामी तथा विशेषावश्यक भाष्यकारने यही पाठ लेकर उसकी निरुक्ति अनेक प्रकारसे समझायी है और उसीसे अंत में उन्होंने उसके संस्कृत रूपान्तर अर्हत् की भी व्याख्या की है। धवलाकार के मतसे 'अरि हननाद अरिहन्ता' रजोहननाद् वा अरिहन्ता, रहस्याभावाद् वा अरिहन्ता अतिशय-पूजार्हत्वाद् वा अर्हन्तः। इस प्रकार धवलाकारके सम्मुख तो विकल्पसे भी अरहंत पाठ नहीं है ( षट्खंड भाग १ पृ. ४२ आदि ) ।

अतः दिगम्बर-श्वेताम्बर दीर्घकालीन सैध्वान्तिक परम्परा अरिहंताणं पाठके पक्ष में ही सिद्ध होती है। इसी मंगलके 'णमो आइरियाणं' में भी 'र्य' के स्थान पर रिय आदेश हुआ है और उसी प्रकार 'आर्य' का 'आरिय' तथा 'वर्ष' का 'बरिस' रूपान्तर होता है।

### षट्खण्डागम और प्रज्ञापना सूत्र

पणवणासुत्त की प्रस्तावना का दूसरा प्रसंगोपयोगी प्रकरण पृष्ठ २२३ आदि पर प्रज्ञापना और षट्खण्डागम के तुलनात्मक विवेचन विषयक है। इसके अनुसार इन दोनों रचनाओं में बहुतसी महत्वपूर्ण समानतायें हैं। १) दोनों का विषय जीव और कर्मकी सैध्वान्तिक व्याख्या है। २) उनका

मूल स्तोत्र बारहवाँ श्रुतांग दृष्टिवाद है। ३) उनकी रचना सूत्र-रूप है। ४) कहीं कहीं दोनों में ये सूत्र गाथात्मक भी हैं। ५) कुछ गाथायें दोनों में समान हैं जो निर्युक्तियों और विशेषावश्यक भाष्यादि में भी पायी जाती हैं। ६) दोनों रचनाएँ संग्रहात्मक हैं जिनमें समान शब्दावलि और उक्तियों का भी समावेश हुआ है। ७) दोनों के अल्प-बहुत्व प्रायः समान हैं और उन्हें महादण्डक कहा गया है। ८) गत्यागति प्रकरण में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव पदों की प्राप्ति का उल्लेख है। ९) प्रज्ञापना के कर्म, कर्मबंधक, कर्म-वेदक, वेद-बंधक, वेद-वेदक और वेदना ये छह पद ( २३ - २७ और ३५) षट्खण्डागमके छह खण्डों जीव-स्थान, क्षुद्रक-बन्ध, बन्ध-स्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध का स्मरण कराते हैं। दोनों रचनाओंकी ये समानतायें निर्विवाद हैं और वे उनकी अर्थ एवं अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे समान परम्परा की द्योतक है।

किन्तु इन समानताओंके होते हुए भी दोनों रचनाओंकी अपनी अपनी विशेषतायें भी अनेक हैं। जैसे १) प्रज्ञापना मे ३६ पदसंज्ञक परिच्छेद हैं और उनके आवान्तर प्रज्ञापना, प्ररुपणा आदि विषयानुसार उपभेद किये गये हैं। किन्तु षट्खण्डागमके खण्ड पूर्वोक्त छह ही हैं, और उनके भीतर बहुतायतसे चौदह जीव-समासों ( गुणस्थानों ) व चौदह-मार्गणा स्थानोंके अनुक्रमसे विषय प्ररुपण किया गया है, जिनका प्रज्ञापना सूत्रमें सर्वथा अभाव है। २) प्रज्ञापना की रचना एक कर्ता की है, जबकि षट्खण्डागम की रचनामें पुष्पदन्त और भूतबलिका कर्तृत्व तो स्वीकार ही किया गया है, तथा उसकी अनेक चुलिकायें पीछे जोड़ी गयी अनुमान की जा सकती हैं, जैसे दशवैकालिक आदि आगम ग्रन्थोंमें पाया जाता है। ३) षट्खण्डागममें प्रतिपाद्य विषयोंका विवेचन प्रज्ञापना सूत्रकी अपेक्षा अधिक विस्तृत और गंभीर, सुव्यवस्थित व योजनाबद्ध है। ४) प्रज्ञापना सूत्रमें प्रश्नोत्तर शैलीका उपयोग षट्खण्डागमकी अपेक्षा अधिक है। ५) प्रज्ञापना सूत्रकी रचना शुद्ध सत्रात्मक है, जबकि षट्खण्डागममें बहुधा अनुयोगद्वारोंके निर्देश सहित टीकात्मक शैली भी पायी जाती है। यहां निर्युक्तियोंके समान नाम, स्थापना आदि निक्षेपोंके आश्रय से तत्त्वार्थसूत्र के समान सत्, संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा प्ररुपणा, निर्देश, विभाषा आदि जैसी संज्ञाओंके प्रयोग सहित भाष्य शैली अपनायी गयी है, तथा गति-अनुवादेन, इन्द्रियानुवादेन आदि स्पष्ट निर्देशोंका भी प्रयोग हुआ है। ६) षट्खण्डागम ( भाग ७ सूत्र ७९ ) में महादण्डक नामसे अल्पबहुत्व अधिक व्यवस्थासे ७८ पदोंमें 'वत्तइस्सामो' 'कादब्बो' जैसे शब्दों सहित किया गया है, जबकि प्रज्ञापना सूत्रमें ऐसे

शब्दोंके बिना वह ९८ पदोंमें अवान्तर भेदोपभेदों सहित शिथिलतासे हुआ है। ७) प्रज्ञापना सूत्रके स्थान-पद नामक द्वितीय पदमें जो जीवोंके क्षेत्रोंका वर्णन है वह शिथिलताके कारण बहुत लम्बा है, जबकी वही षट्खंडागम (भाग ७ पृष्ठ २९९ आदि) में मार्गणा-स्थानोंके अनुक्रमसे सुगठित शैलीमें अपेक्षाकृत थोड़ेमें आ गया है। ८) प्रज्ञापना सूत्रमें अल्प-बहुत्व २६ द्वारोंसे प्ररूपित है, तथा उसमें जीव- अजीवका मिश्रण अव्यवस्थासे हुआ है। किन्तु षट्खण्डाममें वही १४ मार्गणाओंके द्वारा सुव्यवस्थित रूपसे आया है। प्रज्ञापना सूत्रके २६ द्वारोंमें गति इन्द्रिय आदि मार्गणाओंके नाम भी यत्र-तत्र आ गये हैं, किन्तु उसमें सुनिश्चित १४ मार्गणाओंका अभाव है। यही स्थिती स्पर्श, काल आदि प्ररूपणाओंकी है। ९) प्रज्ञापना सूत्रकी तीन गाथाएं ( ९९- १०१ पृ. २५ ) वे ही हैं जो षट्खण्डागम ( भाग १४ केसूत्र १२२-१२४ ) में पायी जाती हैं। किन्तु भेद यह है कि षट्खण्डागममें वे 'लक्खणं भण्डं' के साथ प्रस्तुत की गयी हैं जिससे वे अन्यत्रसे उद्धृत सिद्ध होती हैं। इनके कुछ पाठ ऐसे भी हैं जो षट्खण्डागममें अशुद्ध और प्रज्ञापना सूत्रमें शुद्ध रूपमें हैं।

इन समानताओं और विशेषताओं पर विचार करते हुये प्रज्ञापना सूत्रकी प्रस्तावनाके लेखकोंने अपना यह अभिमत व्यक्त किया है कि एक और तो दोनों ग्रन्थोंकी सैध्दान्तिक परम्परा विषय और कुछ अंशमें रचना की दृष्टिसे अभिन्न है, किन्तु दूसरी ओर विषयके वर्गीकरण प्रतिपादन की शैली तथा व्यवस्था और विधान एवं पारिभाषिक शब्दावली आदि की दृष्टिसे षट्खण्डागम की अपेक्षा प्रज्ञापना की रचना अधिक प्राचीन और पूर्ववर्ती प्रतीत होती है। इसकी और भी परिपुष्टि हेतु उन्होंने दोनोंके रचनाकाल पर भी विचार किया है। षट्खण्डागमकी रचना का तो उन्होंने वही काल स्वीकृत कर लिया है जो उसके प्रथम भागकी प्रस्तावनामें अर्थात् वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष पश्चात् विक्रम संवत् की द्वितीय शतीके लगभग निश्चित किया गया था। किन्तु प्रज्ञापना सूत्रकी रचना हेतु उन्हें वैसे निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य व प्रमाण नहीं मिले। अतः उसके लिये उन्हें कुछ शंकास्पद संकेतोंका आश्रय लेना पडा है जो इस प्रकार है -

१) प्रज्ञापना सूत्र के मंगलचरण के पश्चात् दो ऐसी प्रक्षिप्त गाथायें पायी जाती हैं जिनमें अज्ज-साम (आर्य श्याम) को नमन करते हुए कहा गया है कि वे वाचक संघ के तेवीसमें पुरुष थे

और उन्होंने श्रुतसागरसे निकालकर उत्तम श्रुत-रत्न प्रदान किया। इसपर से अनुमान किया गया है कि आर्य श्याम ही प्रज्ञापना सूत्रकेकर्ता हैं।

२) पट्टावलियों की परम्परानुसार जो तीन कालकाचार्य हुए उनमें प्रथम कालक ही श्यामाचार्य थे।

३) धर्मसागरीय पट्टावलि में प्रथम कालक का मृत्यु तथा खरतर गच्छीय पट्टावलि में उनकी जन्म का समय वीर निर्वाण से ३७६ वर्ष पश्चात् माना गया है।

मुख्यतः इन तीन बातोंपरसे निश्कर्ष निकाला गया है कि प्रज्ञापना सूत्रकी रचना श्यामाचार्य द्वारा वीर निर्वाण की चतुर्थ शतीमें अर्थात् विक्रम संवत्से लगभग सौ वर्ष पूर्व और तदनुसार षट्खण्डागम से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हुई।

उक्त तर्कोंपर यहाँ विचार किया जाय। १) उन दोनों प्रक्षिप्त गाथाओंमें पणवणा सुत्त का नाम भी नहीं आया। जिस श्रुत-रत्नका दान श्यामाचार्यने दिया उससे किसी अन्य ग्रन्थ-रत्नका भी तो अभिप्राय हो सकता है। यदि हरिभद्राचार्यने भी इन गाथाओंको प्रक्षिप्त कहकर टीका की है, तो इससे इतना मात्र सिद्ध हुआ कि उनकेसमय अर्थात् आठवीं शतीमें श्यामाचार्य की ख्याती हो चुकी थी। किन्तु उससे पूर्व कब व किसके द्वारा वे गाथायें जोड़ी गयीं इसके क्या प्रमाण हैं। उन गाथाओंमें श्यामाचार्यको वाचक वंशके तेइसवाँ पुरुष कहाँ है। यह वंश कब प्रारम्भ हुआ और उसकी तेइसवी पीढी कब पडी इसका लेखा-जोखा कहाँ है? उनसे पूर्व ग्रन्थकी अंगभूत गाथामें तो स्पष्ट कहा गया है कि पणवणाका उपदेश भगवान् जिनवरने भव्य जनोंकी निवृत्ती हेतु किया था, जब कि प्रक्षिप्त गाथाओंमें दुर्धर, धीर व समृद्ध-बुद्धि मुनि श्यामाचार्य द्वारा किसी अनिर्दिष्ट श्रुत-रत्नका दान अपने शिष्यगण को दिया गया। क्या प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्तृत्व के विषय मे मूल और प्रक्षेपकी मान्यता एक ही कही जा सकती है? २) पट्टावलियोंकी परम्परायें बहुत प्राचीन नहीं हैं। उनके रचनाकाल व प्रामाणिकतामें संदेह है। वे परस्पर विरोधी भी पायी जाती हैं। तीन कालकार्योंमें से श्यामाचार्यका किससे एकीकरण किया जाय इसकी भी उनमें स्पष्ट स्थापना नहीं

पायी जाती। उन्हीं के आधार से तो डॉ. यू. पी. शाहने अपना यह अनिश्चयात्मक मत व्यक्त किया है ( पू. २३२ ) कि जिन श्यामाचार्यको पट्टावलि में ग्यारहवे कहा है वे गर्दमिल्लके विनाशकर्ता कालकाचार्यसे अभिन्न हो जाते हैं और तब प्रथम और द्वितीय कालक भी एक हो जाते हैं, इत्यादि। इस प्रकार श्यामाचार्य का कालक से एकीकरण करके उनका काल-निर्णय करना बहुत कुछ अटकलबाजी ही है।

४) धर्मसागरीय और खरतरगच्छ पट्टावलियां कब बनी, किस आधारसे और उनके परस्पर विरोधका क्या कारण है, इन बातों का समुचित समाधान हुए विना उनमें निर्दिष्ट काल को कहाँ तक प्रामाणिक माना जाय और उनमें उल्लिखित कालक को श्यामाचार्यसे अभिन्न कैसे मान लिया जाय।

जहाँ तक आधार प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे यह स्पष्ट नहीं होता कि कहाँ कालकाचार्य को प्रज्ञापनासूत्र का कर्ता कहा गया है। ‘श्याम’ और ‘काल’ दोनों शब्द एकार्थी हैं, इससे श्यामार्य-कालकाचार्य-यह समीकरण तुरंत स्फुरित होता है। परंतु अभ्यासपद्धति में यह ठीक नहीं लगता। हमें ऐसे प्रमाणों की जरूरत है जहाँ स्वतंत्र रूपसे श्यामार्य और कालकाचार्य दोनों प्रज्ञापन के कर्ता के रूप में निर्दिष्ट हैं। तदनंतर ही दोनोंका समीकरण होगा। तत्पश्चात् ही काल-निर्णय किया जा सकेगा।

वस्तुतः जैन साहित्यिक इतिहास के लिये यह एक महान् उपलब्धि होगी यदि किसी जैन ग्रन्थकी रचना विक्रम पूर्व द्वितीय या प्रथम शताब्दि की सिद्ध की जा सके। वर्तमान जैन प्राकृतसाहित्यमें ऐसी सिद्धि की क्षमता तो किसी भी रचनामें दिखाई नहीं देती, क्योंकि उनकी भाषात्मक वृत्ति मध्य-भारतीय-भाषा (Middle Indo-Aryans) के प्रथम स्तर की नहीं पायी जाती, किन्तु द्वितीय स्तर की है जिसका प्रारम्भ विक्रम की द्वितीय शतीसे पूर्व हुआ ही नहीं था। उदाहरणार्थ, पणवणा सुत्त में आये ‘लोए’ ( लोके ) ‘भयवया’ ( भगवता ) ‘सुय’ ( श्रुत )

‘दितिवाय’ ( दृष्टिवाद ) ‘टिई’ ( स्थिती ) ‘वेयणा’ ( वेदना ) आदि जैसे मध्यवर्ती व्यंजनोंका लोप और उनके स्थान पर य-श्रुतिके आदेश की प्रवृत्ति द्वितीय शतीसे पूर्व की प्राकृत भाषाओंमें नहीं मिलती। इन पूर्ववर्ती भाषाओंका स्वरूप हमें पालि त्रिपिटक, अशोक, खारवेल तथा सुंग और आंध्रवंशीय शिलालेखों एवं अश्वघोष के नाटकोंमें मिलता है जहाँ मध्यवर्ती व्यंजनोंके लोप की प्रवृत्ति का अभाव है। यह व्यंजन-लोप-वृत्ति दुसरी शतीके पश्चात् प्रारम्भ हुई और यही महाराष्ट्री प्राकृतका विशेष लक्षण बन गयी। इसी के जैन प्राकृत साहित्यमें प्रचुरतासे प्रयोगके कारण पिशेल आदि विद्वानोंने जैन प्राकृत रचनाओंकी भाषाओंको जैन महाराष्ट्री व जैन शौरसेनी की संज्ञा दी है। अतः इस भाषाविज्ञान के प्रकाश में पणवणा सुत्त की रचना को द्वितीय शतीसे पूर्व की कदापि स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

जहाँ तक पणवणा के षट्खण्डागम से पूर्ववर्ती होने का प्रश्न है वह भी निस्सन्देहात्मक नहीं कहा जा सकता। दोनों रचनाओं में जो समानतायें हैं वे निर्विवाद रूप से सिद्ध करती हैं कि दोनों की मौलिक परम्परा एक ही है। यह बात केवल इन्हीं दो रचनाओंसे नहीं, किन्तु दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायों की समस्त सैध्वान्तिक (और उप सैध्वान्तिक) रचनाओंसे ही सिद्ध होती है। उनका प्राण एक है, किन्तु शरीर व अंग-रचना भिन्न है। इस संबंध में धवलाकार वीरसेनाचार्यका यह कथन ध्यान देने योग्य है कि (षट्खण्डागम भाग १ पृ ६०) कर्ता दो प्रकार का होता है, अर्थ-कर्ता और ग्रंथ-कर्ता। प्रस्तुत षट्खण्डागमके अर्थ-कर्ता तो भगवान महावीर ही हैं, किन्तु ग्रंथ कर्ता गौतमादि मुनियों के अनुक्रम से पुष्पदन्त और हात भगवान महावीर ही हैं, किन्तु ग्रंथ-कर्ता गौतमादि मुनियों के अनुक्रम से पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य हैं, भगवान महावीर के जिस उपदेश के आधारसे षट्खण्डागमकी रचना हुई उसीसे प्रज्ञापना सूत्र की। किन्तु साम्प्रदायिक परम्पराओंके अनुसार उनमें शैली व वर्गीकरणादि में भेद होना स्वाभाविक था। अनुबद्ध परम्परामें तो शैलीके विकासानुसार ग्रन्थोंके पूर्वापरत्व का कुछ अनुमान किया भी जा सकता है, किन्तु स्वतंत्र परम्पराओंमें यह अनुमान अनुपयुक्त पाया जाता है, और इस बातपर प्रज्ञापना सूत्रके सम्पादकोंने स्वयं भी बहुत जोर दिया है। वे कहते हैं ( प्रस्ता. पृ. २३० )।

**The Style of treatment i.e. its simplicity or otherwise, can not be a determining factor in fixing up the chronological order of these works. This is so because the nature of the style was dependent on the objective of the author and on the nature of the subject-matter, simple or subtle. Hence we would be making a great blunder in fixing up the chronological order of Prajnapana and Satkhandagama if we were guided only by the fact that the treatment of the subject-matter in the Satkhandagama is more detailed and subtle than that found in Prajnapana Sutra.**

इसका अभिप्राय यह है कि प्रतिपादन शैलियोंकी सरलता और सूक्ष्मताके आधार मात्रसे किन्हीं रचनाओंके कालानुक्रमका निर्णय करना एक भारी भूल होगी, क्योंकि ये बातें तो ग्रन्थकारोंके अपने अपने लक्ष्य तथा प्रतिपाद्य विषयपर अवलंबित होती हैं, और यही बात प्रज्ञापना और षट्खण्डागमके विषयमें समझना चाहिये। यहां यह भी स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि जहाँ श्वेताम्बर मुनि प्रधानतया अर्धमागधी आगमसे बंधे रहकर उसीके उद्धार, संग्रह, विस्तार आदि में लगे रहे, वहाँ दिगम्बर मुनियोंने मूल आगमको विलुप्त हुआ स्वीकार कर बहुत कुछ स्वतंत्रतासे नवीन शैलीके ग्रन्थोंका निर्माण किया। इसीके जिसमें विद्वान् आचार्योंने अपनी प्रतिमाका उन्मुक्त भावसे उपयोग किया। परिणामस्वरूप धरसेनाचार्यसे परम्परागत सिद्धान्तका ज्ञान प्राप्त करके षट्खण्डागमके कर्ताओंने अपने बुद्धि-बलसे खारवेल से शिलालेखमें निबद्ध 'नमो अरहंतानं' 'नमो सव सिघानं' रूप व्दिपदी मंगलको पंचपदी बनाकर प्रकट किया, ऐतिहासिक दृष्टिसे देखा जाय तो, विभिन्न स्थानोंमें भिन्न भिन्न विद्वान् मुनियोंके गणोंमें समय समयपर मंगलविस्तारके बारेमें ऐसे प्रयत्न अवश्य किये गये होंगे। जब हम चत्तारिदंडक का अवलोकन करते हैं तो वहाँ का मंगल चतुष्पद है। जब संघ व्यवस्था अच्छी बन गयी, तब 'साहु' शब्दकी व्याप्ति में आचार्य,

उपाध्याय और सर्वसाधु आ गये होंगे। 'जीवकचिंतमणि' नामक प्राचीन तमिल जैन काव्यमें साधारणतया अपेक्षित पंचनमस्कारात्मक मंगलकी जगह ग्रंथके आरंभमें चत्वारि मंगलरूपी नमस्कार है। इसी प्रकार संभवतः उन्होंने ही प्रथम वार जीव -समास (गुणस्थान) मार्गणा-स्थान व विविध अनुयोगव्दारों आदिका आविष्कार कर उनके आधारसे विधिवत् सिध्दान्तका प्रतिपादन किया। उनकी इन विधाओंका स्वभावतः आदिमें विरोध या उपेक्षा की गयी होगी किन्तु धीरे धीरे वेही विधायें, उनकी अधिक सुव्यवस्थाके कारण समस्त जैन सैध्दान्तिक जगत् पर छा गयी, और सर्वत्र स्वीकृत हो गई है। षट्खण्डागमके कर्ताओंने परम्परागत सिध्दान्तकी कोई भी बात किसी भी साम्प्रदायिक भेदभाव या पक्षपातके कारण छोडी नहीं, तथा उन्होंने परम्परागत उपयोगी गाथाओंको भी अपनी रचनामें यथोचित स्थान दिया। 'भणितं' आदि शब्दोंके उपयोग द्वारा यदि उन्होंने यह इंगित किया कि वह गाथा उनकी स्वनिर्मित नहीं है, किन्तु परंपरागत है तो यह उनकी साहित्यिक सच्चाई व ईमानदारी की परिचायक है। किन्तु यदि कोई अन्य लेखक इस वास्तविकताके सूचक संकेतोंको न देकर उसे अपनी मौलिक रचनाका अंगरूप मान लेता है, तो वह इस प्रमाणसे पूर्ववर्ती नहीं माना जा सकता।

आर्यश्यामका नाम निर्देश प्रक्षिप्त गाथाओंमे उपलब्ध होता हैं। वे प्रज्ञापनाके कर्ता ( शब्दके सही अर्थमें ) नहीं है, किन्तु संग्रहकार हैं जिन्होंने परंपरागत विषयोंका संग्रह किया है। जब दोनों ग्रंथकार, षट्खण्डागमके और प्रज्ञापनाके परंपरागत विषयोंका ही संग्रह करके निबद्ध कर रहे हैं, तब 'भणितं' शब्दका कोई कालनिर्णायक मूल्य नहीं है।

प्रज्ञापनामें कई परंपरागत गाथाएँ हैं जो उत्तराध्ययन और निज्जुत्तियोंमें भी मिलते हैं। इनको संग्रहणी गाथा कहा गया है ( देखिए-पं. मालवेनिया-प्रज्ञापना और षट्खण्डागमा, जे. ओ. आर. १९, पृ. २६ इ. बडोदा १९६९ )। पारस्परिक कालनिर्णयमें इनका कोई प्रमाणरूपसे मूल्य नहीं है। यदि प्रज्ञापना उत्तराध्ययनसे उत्तरकालीन है, तो प्रज्ञापनाका समय अनिर्णीत रहता है। जिस रूपमें आज हमें उत्तराध्ययन मिलता है, उस ग्रंथकी रचना संपूर्णरूपसे ईसापूर्व तीसरी या चौथी शताब्दीमें हुई थी, यह हम नहीं कह सकते। जैनतत्त्वविषयक जो अध्याय हैं, जिनको ग्रंथके अंतमे

एकत्रित किया गया है, विशेषतया २८ वाँ अध्याय, बहुत कुछ अर्वाचीन हैं और कई विद्वानों के मतानुसार तत्त्वार्थसूत्रके समीपवर्ती कालके हैं।

( इस संदर्भमें यह भी ध्यानमें लेना चाहिये। आगमज्ञान परंपरा मुख्यतया मौखिकही था। यह परंपरा हस्तलिखितोंपर चलती थी ऐसा मानकर अनुमान करना ठीक नहीं है। ) यदि कोई गाथा एक ग्रंथमें दूसरे की अपेक्षा अधिक शुद्ध प्रतीत होती है तो वह लिपिकारोंकी सावधानी व असावधानीका परिणाम भी हो सकता है। उसे मूल ग्रंथकार महाविद्वान् आचार्योंकी भूल मानना नितान्त अनुचित होगा। यदि प्रज्ञापनामें पाठविशेष शुद्ध है, किन्तु षट्खण्डागममें अशुद्ध है तो इससे अवश्य यह अनुमान होना चाहिए कि प्रज्ञापनासे यह पाठ षट्खण्डागममें नहीं किया गया है।

उपर्युक्त समस्त विवेचनका तात्पर्य यह है कि हमें अबतक ऐसा कोई प्रमाण हाथ नहीं लगा जिसके आधारसे यह कहा जा सके कि प्रज्ञापना सूत्रकी रचना षट्खण्डागमसे पूर्वकालीन है। षट्खण्डागम वीर निर्वाणके ६८३ वर्ष पश्चात् अर्थात् विक्रम संवत् २०० के लगभगकी सिद्ध है, और वह सर्वसामान्य हो चुकी है। गिरनार व जुनागढके समीप बाबा प्यारा नामक गुफाओंमें जो शिलालेखादि मिले उनसे भी यही सिद्ध हुआ है कि वह सामग्री पूर्वोक्त कालकी ही है और संभवतः वही वह चन्द्रगुफा है जहाँ धरसेनाचार्य निवास करते थे। तथा जिस मुनिके सल्लेखना पूर्वक मरणका गुफालेखमें संकेत है वे धरसेन ही थे।

इसके विपरीत प्रज्ञापना सूत्रके कर्ता और कालके विषयमें अभी भी निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। षट्खण्डागमकी परम्पराके आचार्योंको तो उसके नाम तक की कोई जानकारी नहीं प्रतीत होती; क्योंकि, यदि होती तो धवलाकार वीरसेनने जहाँ द्वादश अंगों और चौदह अंग बाह्य ग्रन्थों, जैसे दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प, व्यवहार, निशीथ आदि का उल्लेख किया है (षट्खण्डागम भाग १ पृ. ९६) वैसे पणवणा सदृश महत्वपूर्ण रचना को वे कैसे भूल सकते थे ? भाषाशास्त्रके अनुसार वह रचना विक्रमसे पूर्व द्वितीय-तृतीय शती की तो हो ही नहीं सकती, विक्रम संवत् की दूसरी-तीसरी शतीसे पूर्व की भी नहीं मानी जा सकती। यह भी निर्देश किया जाय कि षट्खण्डागममें स्वरमध्य क, त का प्रायः ग, द होने की प्रवृत्ति है, न तो लोप होने की।

भाषाशास्त्रज्ञोंके मतमें यह लोप -प्रवृत्ति का पूर्वस्तर है। निश्चित रूपसे तो केवल इतनाही कहा जा सकता है कि वह उसके सर्व प्रथम टीकाकार हरिभद्र (विक्रम की नवी शती ) से पूर्वकालीन है। और यदि उसके नन्दिसुत्रमें उल्लेख होनेके कारण वलभी वाचनासे पूर्वत्व सिद्ध होता हो, तो वह वीर निर्वाण संवत् ६६३ ( वि. सं. ९९३ ) से पूर्वकालीन मानी जा सकती है। और एक प्रश्नका उत्तर देना आवश्यक है। वह यह है कि प्रज्ञापना को , जो संपादकोंके अनुसार विषयकी दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण है और कालकी दृष्टि से इतना प्राचीन है, उपांगोंके अंतर्गत क्यों विभाजित किया गया है ? उपांग विभाग अर्वाचीन है और अंगोंसे उसका संबंध कृत्रिम है। उपांग विभाजन संभवतः वलभीवाचनानंतर ही अस्तित्वमें आ गया है और जो विषय अंगमे ग्रथित नहीं हो सके ऐसेही विषय उपांगोंमें विद्यमान हैं। आर्य श्यामने जो संग्रह किया गया है, वह सापेक्षतः अव्यवस्थित और कहीं कहीं अपूर्ण सा लगता हैं, इसका कारण बहुत हद तक यही है। मतलब यह है कि संग्रह करते समय सब विषयोंका चिंतन अपनीही तरफसे उन्होंने नहीं किया है।

संक्षेपमें यह ही कहना पडता है कि प्रज्ञापनामें कुछ प्राचीन अंश है, किंतु वे व्यवस्थित रूपमें नहीं रहे हैं। उसका प्रस्तुत स्वरूप वलभी वाचना या सम्मेलनके पूर्वकालीन नहीं है। वलभी सम्मेलनमें उसे 'उपांग' के रूपमें रक्खा गया और प्रक्षिप्त गाथाओ में उसके तथाकथित कर्ताका नाम आया है।

प्रस्तुत भाग के संशोधन का विवरण पं. फुलचन्द जी सिध्दान्त शास्त्री ने अपने 'आवश्यक निवेदन' में प्रस्तुत किया है। पंडितजी ने इस कार्य में जो परिश्रम किया है उसके लिये हम बहुत कृतज्ञ हैं। उन्होंने पाठ-संशोधन की जो तालिका दी है उससे स्पष्ट है कि यह संशोधन पूर्ण सावधानीसे किया है जिससे हम कह सकते हैं कि अब उक्त ताडपत्रीय प्रतियोंकी वह अनिवार्यता नहीं रही। विशेष संतोष की बात यह है कि जिस साधन-सामग्री परसे प्रथम संस्करण तैयार किया गया था, उसे देखते हुये जितनी जैसी अशुद्धियोंकी हमें आशंका थी वैसी नहीं मिली। आश्चर्य यह नहीं है कि कुछ महत्वपूर्ण पाठान्तर मिले, किन्तु आश्चर्य यह है कि उनसे पूर्ण संस्करणमें बैठायी गयी अर्थ -संगति सुव्यवस्थित ही सिद्ध हुई है। हमें आशा है कि अब शीघ्र ही अन्य मार्गोंके भी संशोधित संस्करण क्रमसे तैयार कर प्रकाशित किये जा सकेंगे। इस आशाका बडा भारी आधार

यह है कि संस्कृति संघके सचिव श्री. बालचन्द देवचन्दजी शाह तथा उनके सहयोगी सदस्य इस विषयमें खूब रुचि रखते हैं और सब प्रकारसे अपना अधिकतम सहयोग प्रदान कर रहे हैं ।

दिवंगत श्री एन्. चंद्रराजने ताडपत्र हस्तलिखित प्रतियोंकी फोटोके आधारपर पाठान्तरोंका संग्रह किया था। इस पठन कार्यमें उनको विशेष प्रशिक्षण दिया गया था। इस कार्यमें हस्त प्रतियोंमेंसे एक के पाठान्तर लिख लेनेमें पं. बालचन्द्र शास्त्री व प्रा. जे. डी. भोमाज ने सहायता की है। श्री. चंद्रराजके मूल फोटो प्रतियोंको पढते समय प्रा. भोमाज पाठ लिख लेते थे। इस संपुटके मुद्रण तथा प्रूफ संशोधनके कार्यमें प्रा. भोमाज और श्री. नरेंद्र भिंसीकर का अमूल्य सहयोग उपलब्ध हुआ है। उन सब सज्जनोंका हम बहुत आभार मानते हैं।

बालाघाट (म. प्र.)

ता २४-११-१९७२

सम्पादक,

हीरालाल जैन.

आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

स्सस